स्वदेशी की उमंग, लोकगीतों की तरंग

भारत के आजाद होने के साथ स्वतंत्रता संघर्ष को खत्म होना ही था, किंतु स्वदेशी के लिए संघर्ष तो अबतक यत्र-तत्र-सर्वत्र चलता है। कारण है कि जिस तीव्रता से स्वदेशी भावनाओं, वस्तुओं, विचारणाओं को लोक जीवन में अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित होकर अंगीभूत होना था, वह नहीं हुआ; उल्टे आयातित वस्तुओं पर निर्भरता बढ़ती गई। यह निर्भरता वहाँ भी बढ़ी, जहाँ इसकी तनिक भी जरूरत नहीं थी, एकदम निचले स्तर तक पहुँचकर यह घुल-मिल गई। धीरे-धीरे पराश्रयता इतनी अपरिहार्य बना दी गई कि इनके बिना काम चलाना असंभव लगने लगा, कुछ जगह यह घटिया उत्पादों पर निर्भरता तक पहुँची। उच्च स्तर पर जहाँ इसकी जरूरत थी, स्वदेशी का विकल्प मौजूद नहीं था, वहाँ तो खैर इसे होना ही चाहिए था। विदेशी के साथ देशी आविष्कारों-चमत्कारों का कदमताल नहीं मिल पाया, क्योंकि इसके लिए लगन, साधना, ईमानदारी के युक्त जिस कार्यशील माहौल की जरूरत होती है, वह स्वतंत्रता के बाद नहीं बन पाया। इस कसक की अभिव्यक्ति समाचार पत्रों से लेकर ज्ञान-साहित्य और लोक साहित्य में हुई है। यह प्रश्न अनुत्तरित है कि स्वदेशी का संघर्ष क्या इसलिए परवान नहीं चढ़ सका, क्योंकि इसकी अपेक्षा किसी और से नहीं, देशवासियों की खुद से थी।

अस्तु, यह नहीं भूलना चाहिए कि स्वाधीनता आंदोलन सफल हुआ तो उसके पीछे स्वदेशी के प्रति भावनात्मक लगाव का भी योगदान था। तब भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में शिक्षा, रोजगार-व्यवसाय, पहनावे आदि सब जगह स्वदेशी की माँग होने लगी। जीवन से इसकी संपृक्ति इतनी गहरी हो गई कि सभी संस्कारों व दैनंदिन के जीवन-व्यवहारों में इसकी सहज आवश्यकता अनुभूत होने लगी। स्वतंत्रता सेनानियों ने आम लोगों के साथ मिलकर विदेशी वस्तुओं-विचारों का बहिष्कार करना आरंभ किया और स्वदेश निर्मित उत्पादों को अपनाने पर बल दिया। इस सिलसिले में चरखा एक ऐसा लोकप्रिय यंत्र बना, जिसके लिए न विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता थी और न अधिक पूँजी की ही और न ही बड़े तामझाम से कोई ढाँचा खड़ा करने की जरूरत थी। इसलिए इसे घर-घर पहुँचते देर न लगी। आजादी के आंदोलन के समानांतर स्वदेशी आंदोलन का चरखा आर्थिक सबलता व जनचेतना निर्माण में एक साथ समर्थ हुआ। स्वाभाविक ही था कि लोक साहित्य भी इस आंदोलन के प्रचार-प्रसार का माध्यम बनता; अनेकानेक रूपों में गीतात्मक एवं नाट्य प्रस्तुतियों के द्वारा स्वदेशी के प्रतीक चरखे-खादी का गुणगान होने लगा।

चरखे-खादी को जनप्रिय बनाने में गाँधी जी की लोकप्रियता सर्वाधिक काम आई। भोजपुरी क्षेत्र के लोग उनका हवाला दे-देकर, आर्थिक क्लेशों को दूर करने में सक्षम बताकर चरखा चलाने की पुकार करने लगे -'कह तारेऽ गाँधी जी कि चरखा चलावहु/एहि से हटिहेऽ कलेसवा।' यह सादगी व सदाचार का संबल माना गया, साथ ही इतना सशक्त भी कि इसे श्रीकृष्ण के सुदर्शन चक्र के समान अचूक और सदैव हाजिर कहा गया। 'भारत छोड़ो आंदोलन' के समय मालवा का चरखा गीत सुदर्शन चक्र की स्मृति दिलाता रहा -'चाल चाल म्हारा चक्र सुदर्शन/चाल्या सरसी-रे कि चरखा चाल रे।' एक अन्य लोकगीत में जनता का आह्वान किया गया कि वह आलस्य का परित्याग कर चरखा चलाए और खादी पहनकर गाँधी जी के सत्याग्रह में शामिल होकर स्वतंत्रता की जंग लड़े -'नेता को संदेसो भाई घर घर भेजो रे/खादी पहरो चरखो कातो आलस छोड़ो रे।' महात्मा गाँधी ने कहा कि सब लोग चरखे व हस्तकरघे से बुन कर स्वदेशी कपड़े पहनें। इससे गरीब से गरीब लोगों को भोजन व आवास के साथ पहनने को वस्त्र उपलब्ध होगा। आर्थिक रूप से विपन्न लोगों को कमाने-खाने का साधन उपलब्ध होगा -

हथ करघे का कपड़ा पावैं, गाँधी का फरमान बजावैं।

गरीब जुलाहाँ के कुंनबाँ नै, रोटी कमाने का काम दिलावैं।

राजस्थान के लोकगीत में सुंदर चरखे के प्रति आग्रह भाव दर्शनीय है -'चरखो तो ले ल्यो भँवर जी रांगलो जी, हाँ जी ढोला! पीड़ो लाल गुलाल।' हरियाणवी लोकगीतों में चरखा ऐसा साथी बन गया, जो असली जीवन-साथी के परदेस में प्रवास के समय जीवन-साथी की भूमिका में आ जाता है, मन का प्रिय आधार बन जाता है और इसलिए उससे मन को बड़ी सांत्वना मिलती है -'तुम तो चाल्ले नौकरी, म्हारा कूण हवाल/यो चरखा म्हारे मन बस्या।' एक अन्य लोकगीत में एक महिला अपने पति से स्वदेश निर्मित वस्त्रों को खरीदकर लाने का निवेदन करती है। इतना ही नहीं, वह देशप्रेमी बनने का आग्रह भी करती है -'सैंया होके भारतवासी काहे हँसी करावत मोर/खादी की धोती नई ल्याओ।' कुमाऊँनी लोकगीत में सब कुछ सुई, धागा, बटन, यहाँ तक कि मरणोपरांत कफन भी स्वदेश निर्मित ही नसीब होने की इच्छा व्यक्त हुई है -'लुकुड़ा स्वदेशी सूना हो कफन स्वदेशी/स्यूड़ धागो मशीन हो बटन स्वदेशी।' यह ऐसा जज्बा था, जिसमें 'मैं भी तेरे साथ चलूँगी गाँधी के जलसे में' जैसे लोकधुन पर साधारण जन आतुर होकर कूच करते थे और महिलाएँ तिरंगे झंडे के तीन रंगों वाली चुनरी मँगाने को कहती थीं -'ओ बालम मन्नै ल्या दे चुनरिया/तीन रंग की मनै ल्या दे चुनरिया।'

जब किसी चीज की खुमारी चढ़ती है तो वह सिर चढ़कर बोलने लगती है। उस ट्रेंड-चलन में खड़े होने की होड़-सी मच जाती है, नितांत रूढ़ परंपराओं में भी वह स्वीकार्य और आत्मसात होती है। इसलिए संस्कार गीत जो न जाने कब से बनते-बदलते गाए जाते आ रहे हैं, उनमें भी चरखे व खादी को सहज प्रवेश मिल गया। उत्तर प्रदेश-बिहार के एक सोहर गीत में चरखा कातने से उत्पन्न राग को मनभावन और युगप्रवर्तक बताया गया -'सखिया सब मिलि चरखा चलावहु जुग पलटावहु हो/चरखा के राग सोहावन अति मन भावन हो/सखिया सब मिलि चरखा चलावहु देस दुःख टारहु हो।' दूसरे संस्कार गीत में बालक के जन्म का समाचार प्राप्त होने पर चरखे की तान मधुरीली और मन मग्न हो जाने का जीवंत संकेत है -

कातत रहलो चरखवा; सबदिया सुनइले नु हो।
ललना बहुअरि के भइले ललनवा; उठेला घरवा मंगल हो।।
चुर-चुर बोले मोर चरखवा; मगन हमरा मन भइले हो।
ललना जुटि गइली सखिया सहेलरि; बिहँसि गावे मंगल हो।।

स्वदेशी भाव सनातन संस्कारों का बड़ी सहजता से अंग बनता गया, लोगों की आदत में शुमार होता गया। एक विवाह गीत में लड़की ऐसे दुल्हे की आकांक्षा प्रकट करती है जो तन, मन, संस्कार, विवेक से देशी-देशभक्त हो, हमेशा देश का ख्याल रखे, देश की समस्याओं व चुनौतियों से जूझे -

अइसन बर बाबा खोजहु सुदेसिया हो; जे हो निपुन, गुनवान हो।
देसवा के दुःख देखि जियरा पसीजे हो; हरदम देस के धियान हो।
अइसन बर लागि धियवा बिअहबो हो; एहि जियवा के हमार चाह हो।

आजकल जो कभी टाई-कोट नहीं पहनते, वे भी शादी-विवाह के अवसर पर पहन लेते हैं। क्या दुल्हा और क्या बाराती, सब बारात के दिन बड़ी शिद्दत से सँजोकर रखे सूट धारण करते हैं। यह दुल्हा और बाराती होने की शर्त बन गई है। पराधीनता के दिनों में भी एक ओर अंग्रेजियत की मनमानस में पैठ बनाने लगी; अभिजात्य, सभ्य, पढ़े-लिखे होने की यह पहचान बनने लगी, तो दूसरी ओर स्वदेशी का स्वर भी गूँजता रहा। यह अंतर्द्वन्द्व समाज और साहित्य दोनों में दृष्टिगत होता है। भोजपुरी लोकगीत में विवाह के अवसर पर टाई-कोट पहन कर आए दुल्हा, समधी और बारातियों को वापस जाने के लिए कहा जा रहा है

कि जब वे स्वदेशी पोशाक पहन कर आएँगे, तभी विवाह संपन्न होगा; आने तक लड़का-लड़की आरक्षित रहेंगे -

फिरि जाहु फिरि जाहु घरवा समधिया हो, हमरो धिया रहिहैं कुँआरि।
बसन उतारि सब फेंकहु बिदेसिया हो, तोहरो पूत रहिहैं उधार।
बसन सुदेसिया मँगाई पहिरइबऽ हो, तब होइहैं धिया के बियाह।

गाँधी, चरखा और खादी स्वदेशी-स्वातंत्र्य समर के समय एक-दूसरे के पूरक थे। एक चरखा गीत में व्यंग्यात्मक ढंग से गाँधी जी को दुल्हा और सरकार को दुल्हन बताकर शादी संबंध स्थापित करने की बात कही गई है। गाँधी जी को जीजा और गवर्नर जेनरल विलिंगडन को साला बताया गया है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार में वर पक्ष व कन्या पक्ष का संबंध दर्शाया गया है और दहेज में स्वराज्य की माँग की गई है -

गाँधी बाबा दुल्हा बने हैं, दुल्हन बनी सरकार।
वीर जवारह बने सहबाला, इर्विन बने नेवतार।
वालंटियर सब बने बराती, जेलर बने बाजंदार।
दुलहा गाँधी जेबन बैठे, दहेज में माँगे सुराज।
लार्ड बिलिंगडन दौरत आए, जीजा गौने में देबौं सुराज।

हरियाणा के दौड़ के गीत में तो चरखे को लेकर पति-पत्नी का आपसी संवाद बड़ा मार्मिक है, जहाँ पति चरखा काटने को कहता है तो पत्नी बहाना बनाते-बनाते कह देती है कि मेरे मर जाने के बाद श्राद्ध के मौके पर चरखा कतवाना -'पिया हो मैं तो मौस नै मर ज्याँगी/मेरे ठोसे पै कतवाइए।' 'चरखौ' नामक राजस्थानी गीत में स्त्री-जीवन की कर्मशीलता और अकर्मण्य नर का तुलनात्मक चित्रण है। चरखे ने स्त्री को घर में बैठे-बैठे कमाई का संसाधन और स्वावलंबन दोनों उपलब्ध करा दिया, जबकि नर लंबे अरसे तक बाहर कमाकर आने के बाद भी कुछ खास उपार्जित नहीं कर पाता -

अरे चरखे री कमाई, म्हारौ नणदल नै परणाई
नणदल ने परणाई, म्हारैं हिंवड़ै हाँस घड़ाई
भूँ बेली चरखा भूँ, ओ पनरे बरस सूँ खाविंद आयौ
काँई काँई चीजाँ लायौ, हाथ में होकलियौ लायौ
चिणा चावतौ आयौ, भला भूँ बेली चरखा भूँ।

यह शोचनीय अवश्य है कि जब स्वतंत्रता संग्राम और स्वदेशी आंदोलन एक-दूसरे के अनुपूरक होकर चले तो फिर आजादी मिलने के साथ और उसके बाद स्वदेशी आंदोलन फलितार्थ क्यों नहीं हुआ? लोक जीवन में स्वदेशी के प्रति वह आकर्षण नहीं रहा जो आजादी के दिनों में था। क्या भूमंडलीकरण, सूचना-संचार क्रांति और विदेशी निवेश के दौर में स्वदेशी का सवाल अप्रासंगिक हो गया है अथवा आधुनिकता की क्रांति में स्वदेशी तकनीक, उत्पाद और आविष्कार बहुत पीछे छूट गए? जो भी हो, पहले की अपेक्षा स्वदेशी तकनीक का उन्नत होते जाना आशाजनक है।